

# एक स्कूल मैनेजर की डायरी के कुछ पन्ने-XVI

## रिश्तों का सफ़र-I

फ़राह फ़ारूकी

**ए**क लम्बे लेख को दो भागों में पेश करना पड़ रहा है। इस पहले भाग में मैंने बच्चों, विरादरी और स्कूल स्टाफ़ के साथ अपने रिश्ते की बात की है। मुझे लगता है कि यह भाग और अगला हिस्सा काफ़ी गुंथे हुए हैं। बेहतर होगा अगर आप दोनों को पढ़ने की कोशिश करें।

हाल ही में मैंने मैनेजर के औहदे से इस्तीफ़ा दे दिया है। बहुत मुश्किल और तकलीफ़दे फ़ैसला रहा। अगले लेख में लिखूंगी कि किन हालात में यह फ़ैसला लेना पड़ा। इस लेख में मैं रिश्तों के सफ़र की बात कर रही हूँ। आप पाएंगे कि स्कूली इंतेज़ाम को रिश्तों के समझने-बनने-बदलने की नज़र से देखा गया है। यह बताता है कि मैनेजर के रोल का मतलब 'मैनेज' करने या काबू करने से नहीं है बल्कि लोगों के साथ मिलकर एक समूह बनाने से है जिसमें चीज़ों को बदलने की हिम्मत हो। यह तब ही मुमकिन है जब लोगों को बराबरी का, सहारे का और एहमियत का एहसास हो। तब ही लोग जुड़ते हैं और काफ़िला बनता है। गुफ़्तुगू के खुले रास्ते मक़सद को साफ़ करते हैं और उसकी तरफ़ बढ़ने की हिम्मत देते हैं। राजनीतिक और सांस्कृतिक बदलाव का आपसी ताल्लुक है लेकिन इसकी हदें भी हैं। इन हदों को सोच-समझ-यकीन में बदलाव ही लांघने में मदद कर सकता है। वरना बदलाव एक पानी का बुलबुला ही होता है। यानी, कुछ हद तक आर्ज़ी ही। ढांचों के हिलने-डुलने में सत्ता का रोल है जो लोगों को खुदमुख्तारी और एहमियत का एहसास देता है या छीनता है। यह एहसास रिश्तों को बनाते, बिगाड़ते या पुरख़्ता करते हैं। यानी, रिश्तों के साथ जज़बात और एहसासात जुड़े होते हैं। आपको यह पढ़ते वक़्त लगेगा कि मैंने अपने जज़बात का खुलकर इज़हार किया है। एक बार यह ख़्याल भी आया कि जज़बात का इज़हार क्यों किया जाए, क्या इसका कोई फ़ायदा या एहमियत है? लेकिन फिर महसूस हुआ कि एहसास, जज़बा नज़रिया और इरादा एक लड़ी में ही तो पिरे हुए हैं। जबकि समाजी साइंसदां अपने विश्लेषणों में जज़बात को बहुत एहमियत नहीं देते। लेकिन अगर हम सामाजिक साइंस के किसी भी लेख को पढ़ें तो यह साफ़ हो जाएगा कि लेखक ने किसी नुक़्ता-ए-नज़र से लिखा है। नज़रिए के पीछे इरादा और जज़बा छुपा होता है जो विचारधारा से जुड़ा होता है। अगर हम और ग़ौर करें तो पाएंगे कि विचारधारा और इरादों की तहों में एहसासात का अहम् रोल है। विचारधारा और जज़बात हमजोली से महसूस होते हैं। इस तरह यह जज़बाती सी कहानी विचारधारा और नुक़्ता-ए-नज़र की भी तरजुमानी करती है।

आज जब पीछे मुड़कर अपने तक़रीबन छः साला स्कूली सफ़र को देखती हूँ तो न सिर्फ़ स्कूली रिश्तों में समाज का अक्स दिखता है बल्कि इन रिश्तों में मुझे मेरा खुद का ताअरुफ़ मिलता है। मेरी पहचान के

अनगिनत रंग इनमें छुपे हैं, जैसे: औरत होने का, बदलते राजनीतिक हालात में मुसलमान होने का, एक अध्यापक और मैनेजर का रोल और ज़िम्मेदारी, एक खास तहज़ीब के दायरों में बंधे होने का, उन दायरों से जूझने का एहसास, पिछड़े-पिछड़ते वर्गों की तरफ़ ज़िम्मेदारी।

ऊपर दी गई वजह के अलावा एक और वजह है कि रिश्तों और एहसासों की बात की जाए। वह वजह यह है कि मैं स्कूल में कई रोल एक साथ निभा रही थी। मैनेजर के रोल में ही एक एजुकेशन के विद्यार्थी और शोधकर्ता का रोल छुपा था। मेरी स्कूली हैसियत और रिश्ते यह भी बताते हैं कि मैं यह रोल यानी शोधकर्ता का रोल कैसे निभा पाई। यह रोल कुर्बतों और फ़ासलों से जुड़ा हुआ है। यह लेख बताता है कि स्कूली रिश्तों ने किस तरह मेरी मुलाकात लोगों से और उनकी दुनियाओं से करवाई। इन तमाम रिश्तों को आज देखती हूँ तो महसूस होता है कि कुर्बत और फ़िक्र के साथ-साथ एक किस्म की न बह जाने वाली दूरी भी थी। क्योंकि शायद बल्कि बिलाशुबह कहना चाहिए कि स्कूल से जुड़े लोगों को मुझसे तकलीफ़-शिकायत ज़रूर रही होगी लेकिन मुझे तो किसी से न तो शिकायत है, न ही रंजिश बस मोहब्बतों का एक दरिया सा है। हां, इस सफ़र ने मुझे इंसानी हैसियत, फ़ितरत, तहफ़फ़ुज़, कमज़ोरी, इख़तलाफ़, ग़ैर-बराबरी, सत्ता, सत्ताधारी के बारे में ग़ौर और मंथन करने के मौक़े दिए हैं।

## छोटे उस्ताद

जहां तक बच्चों से मेरे रिश्ते का ताल्लुक़ है मैंने तो इसका भरपूर लुत्फ़ लिया है, साथ ही दर्द भी सहा है। शुरू में बच्चों से मिलना, बात करना जैसे किताब सी खोल देता था। बहुत से बच्चे तो लगता था कि बात करने के लिए बेताब से हैं। बस मोहब्बत का एक एहसास और यह इत्मिनान चाहिए कि यह दोस्ती कहीं उनके लिए नुक़सानदे तो साबित नहीं होगी। ज़्यादातर बच्चे हम बड़ों के मुक़ाबले में ज़्यादा दरियादिल मिले। बड़े तो उनकी बुराई करते नहीं थकते लेकिन वह असातज़ा के लिए ज़्यादातर इज़ज़त से ही बोलते हैं। हां, अगर बेइज़ज़ती का एहसास ज़्यादा ही हो तो अलग बात है। कुछ बच्चे अगर कुछ कहते भी हैं तो मज़ाक़ के अंदाज़ में, नाम लिए बग़ैर, जैसे, “एक हमारे बहुत सीनियर सर हैं मैम, वह ऐसे बोलते हैं, “क्या कर रहा है बे तू, यहां से निकल ले।” हां, कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने अध्यापकों को कण्डक्टर, मिट्टू जैसे ख़िताब भी दे रखे हैं और आंख बचाकर पीछे से उन पर छोटे बम भी फेंकने की ज़ुरत रखते हैं। मेरे और बच्चों के रिश्ते कभी उनके उस्तादों और मेरे रिश्ते के दरम्यान नहीं आए। इसका मतलब यह नहीं है कि मैनेजर का रोल निभाने में मैंने जानकारी का इस्तेमाल नहीं किया। अपने ख़्याल में बहुत सोच-समझ कर किया। इस बारे में कई बार स्टाफ़ मीटिंग में बात रखी कि हम अपने बच्चों को इज़ज़त और एहमियत का एहसास कैसे दिलाएं? कई बार बग़ैर किसी बच्चे का नाम लिए हुए यह भी कहा, “चाहे हमारा इरादा यह न हो लेकिन हमारी बातों से बच्चों को आपसी फ़र्क़ का एहसास होता है, हमें ज़रा ध्यान देने की ज़रूरत है। हमारे कुछ बच्चों का कहना है कि कई बार कहा जाता है कि जमना पार के बच्चे ठीक नहीं हैं”। इस जुमले पर कुछ बातचीत मुमकिन हो पाई।

बच्चों का और मेरा रिश्ता दो तरफ़ा ही रहा है। बहुत से बच्चे स्कूल में मुझे देखकर सलाम करते हुए भागे चले आते थे। ख़ेरियत दरयाफ़्त करते थे। हाल-चाल पूछते थे कई बार फ़ोन पर भी बात हो जाती थी। रमज़ान में इफ़्तार का बुलावा भी मिला है। शिकायत के, राय-मशवरे के, इत्तिजा के फ़ोन भी आते रहे हैं। कई बच्चों ने मैनेजर के साथ रिश्ते का दिखावा भी किया है, कुछ ने इस रिश्ते के हवाले से टीचर पर धौंस भी जमाई है। कुछ ने बस लिहाज़-अदब किया। बहुत ने ज़िन्दगी के तज़ुरबे बांटे, बयान किए, मज़ाक़ किए, मेरी मज़ाक़ भी उड़ाई। राय भी दी, “मैम, फ़ज़िर की नमाज़ अदा करने का बहुत सवाब है, कोशिश कीजिए कि पढ़ पाएं।” ज़िद भी की, दबाव भी डाला, “मैम, आख़िरी साल है, पिकनिक के लिए तो हां कर दीजिए”। धमकी के अंदाज़ में भी बोला गया, “यह तो ग़लत हुआ, स्कूल तो शिफ़्ट नहीं होना चाहिए था”। फ़ायदे भी उठाए, रूठे भी। बस ग़ज़ब तो एक-आध बार ही हुआ है। पता यह चला कि हमारे एक बच्चे ने जो बारहवीं में पढ़ता था किसी बच्चे से ग्यारहवीं में हमारे स्कूल में एडमिशन करवाने का वादा किया और पैसे मांगे। एडमिशन के सिलसिले में मुझसे भी सिफ़ारिश करने के लिए फ़ोन किया और बच्चे की परेशानी बयान की। मैंने प्रिंसिपल साहब से गुज़ारिश की कि अगर गुंजाइश हो तो बच्चे को एडमिशन दे दें। कई

दिन बाद प्रिंसिपल साहब का फ़ोन आया, काफ़ी गुस्से में और परेशान लग रहे थे, कहने लगे, “मैडम, उस बच्चे को जिसके लिए फ़जल ने आपसे फ़ोन करवाया था, उसे तो मैं एडमीशन हरगिज़ भी नहीं दूंगा”। मेरे पूछने पर बताया कि इतिफ़ाक़न वह बच्चा एक दिन प्रिंसिपल साहब के बेटे को मिल गया था। हमारे प्रिंसिपल साहब स्कूल के पास ही रहते हैं और उनका बेटा हमारे स्कूल में ही पढ़ा है। उस बच्चे को यह पता नहीं था कि वह प्रिंसिपल साहब का बेटा है। बातों-बातों में उसने बताया कि आजकल वह पैसे जोड़ रहा है क्योंकि एडमीशन करवाना है। जी हां, हमारे फ़जल मियां ने एडमीशन के नाम पर उससे दस हजार रुपये ऐंठने चाहे और उसे बताया कि स्कूल वालों को रिश्वत देनी पड़ेगी। यह सुनकर तो प्रिंसिपल साहब के क्या मेरे भी होश उड़ गए। स्कूल, मौहल्ले और हमारे बच्चों के हालात कभी-कभी हमें भी इल्जाम के दायरे में ला खड़ा करते हैं।

ख़ैर, गद्दी मेरे और बच्चों के दरम्यान नहीं आई। कई बार जब मैं स्कूल में मौजूद होती थी तो प्रिंसिपल साहब के पास दरखास्तें ज़्यादा आती थीं। कैमरा इस्तेमाल करने की इज़ाज़त की, पिकनिक वगैरा की दरखास्तों के अलावा, अध्यापकों के बारे में शिकायती ख़त भी आ जाते थे। प्रिंसिपल साहब, अकसर हंसते थे कि देखिए मैडम, आपकी मौजूदगी का फ़ायदा उठाया जा रहा है। मेरा जबाब होता था, “मैं चाहती हूँ कि फ़ायदा उठाएं, जायज़ भी, जायज़ से ज़्यादा भी। हम आप बच्चों के लिए ही तो काम कर रहे हैं”। जब बच्चों को पता चला कि मैंने स्कूल छोड़ दिया है तो कई ने बेसाख़्ता कहा भी, “मैम अब हमारी बात कौन सुनेगा, आप ही से तो बात कर लेते थे”। कुछ ने शिकायत भी की, “आपको छोड़ने से पहले बताना तो चाहिए था”।

मेरे और बच्चों की कुर्बत ने औपचारिक और दूरी के रिश्तों पर चोट पहुंचाकर उन्हें लचीला बनाने में कुछ तो मदद की। बाकी लोगों के सामने, मेरे ख़्याल में, एक नमूना था कि इस तरह के रिश्ते भी मुमकिन हैं। बच्चों के साथ हंसने क़हक़हे लगाने पर कई बार टीचर अगर ऐतराज़ की नहीं तो हैरत की नज़रों से ज़रूर देखते थे। जबकि यह न तो मक़सद ही रहा और न कोशिश कि असातज़ा की बुराई-अच्छाई सुनी जाए। फिर भी बच्चों के करीब आने की वजह से कई साथियों को अपनी जबाबदेही का एहसास रहा। मुझे लगता है कि मैं बच्चों की आवाज़ स्कूल में सुनी जाए इसका जरिया बन पाई। चाहे पढ़ाई-लिखाई हो या इदारे के भीतर कोई और काम रिश्ते रस्मी तकल्लुफ़ात या औपचारिकता का शिकार हो गए हैं। घुलने-मिलने एक-दूसरे को समझने को स्कूली दायरों से परे मान लिया गया है। हर चीज़ पर औपचारिकता का नीरस ख़ोल चढ़ा है। इन रस्मी दायरों के बाहर क़दम रखने से जबकि सिर्फ़ रिश्ते ही मज़बूत नहीं हुए बल्कि मैं समझती हूँ कि एक-दूसरे से सीखने के बेहतरीन मौक़े हमें मिले हैं। ज़िन्दगी के गहरे सबक़ जब रोज़मर्रा के तज़ुर्बाँ और ‘सादा’ बातचीत से मिलते हैं तो इन पर सवाल उठाने के बेहतर मौक़े भी औपचारिक दायरों के बाहर ही अक्सर होते हैं। जैसे, लड़कियों को मेरे और मेरी बेटी के रिश्ते के बारे में बात करने में बड़ा लुत्फ़ आता था और वह इसकी तुलना अपने पारिवारिक रिश्तों से करती थीं। सांस्कृतिक हालात और आर्थिक स्तर भी इस तुलना का हिस्सा बने।

## मौहल्ले-बिरादरी से रिश्ता

मैंने अपने चौदहवें लेख में यह सवाल उठाने की कोशिश की है कि आख़िर हम बिरादरी किसे मानेंगे। क्या सिर्फ़ बच्चों के वालदैन ही स्कूली बिरादरी का हिस्सा होंगे या फिर मौहल्ले और आसपास के लोग जो स्कूल से मौहल्लत का रिश्ता रखते हैं वो भी शामिल होंगे।

आप तो जानते ही हैं कि इस इलाक़े में स्कूल की एक तारीख़ी एहमियत है। जो लोग इस इलाक़े में एक ज़माने से रह रहे हैं, उनकी या उनके रिश्तेदारों के बचपन की कहानियां स्कूली इमारत की मिट्टी और आबोहवा में रची-बसी हैं। इन मज़दूर लोगों की ज़िन्दगी के सबसे खूबसूरत लम्हे इस सौ-साल पुराने स्कूल से वाबस्ता हैं। तारीख़ी एहमियत का दामन थामे हुए लोगों की मज़हबी पहचान भी हैं। मौहल्ले के लोगों के हालात देश के मुसलमानों की सामाजिक आर्थिक-सियासी तौर पर कमज़ोर हालात का एक आइना ही हैं। लोगों में हावी एहसास है कि न तो देश के प्रभुत्व समूहों के लोग और न ही सरकार उनके साथ है। उन्हें अपनी मदद खुद ही करनी है और विकल्प की कमी में यह कमज़ोर-सा इदारा बेशक़ीमती है।

इन सब वजहों से इदारे से एक गहरा लगाव होना और जताना लाज़मी सा हो जाता है। अगर अपनी बात करूं तो शायद मैं इस ताल्लुक की नौइयत को समझ तो पाई लेकिन जगह नहीं दे पाई। जैसा कि मैं पहले लिख चुकी हूं इसकी बड़ी वजह यह भी रही कि मौहल्ले में बहुत से लोग ऐसे भी रहे हैं जो स्कूल के काम में अड़चन डालते थे। इसके अलावा ऊपरी गदियों पर बैठे मेरे साथी, साथ देने की बजाय, लगातार मुझे बिरादरी की हठधर्मी से मोहतात रहने की सलाह देते थे। अब 'बड़ों' की सलाह को हुक्म कुबूल करना तो कुछ हद तक हालात ने मुझे भी सिखा ही दिया था। लोगों की तजवीज़ भी रही कि पुराने तुल्बा की एक ऐसोसियेशन बनाई जाए। मैं इसके हक में थी, कुछ कोशिश भी शुरू की लेकिन ऐसा करना लोगों के ज़रिए सियासी हस्तक्षेप को दावत देना बताया गया। मैं भी वक्त की किल्लत की वजह से कुछ ज़्यादा ही मोहतात हो गई। आज जब पीछे मुड़कर देखती हूं तो लगता है कि हिम्मत से अगर काम लेती तो रिश्ते बेहतर बन सकते थे और मिलकर स्कूल की बेहतरी के लिए काम किया जा सकता था। वैसे भी जहां बिरादरी को हक है कि वो पब्लिक इदारों पर नज़र रखे वहीं इन इदारों की जिम्मेदारी बनती है कि उनके साथ काम करने, सीखने-सिखाने की हिम्मत पैदा करें।

जहां तक वालदैन का ताल्लुक है, जैसा कि मैं लिख ही चुकी हूं जैसे-जैसे मेरी फ़िक्र और ताल्लुक उनसे बढ़ा, वैसे-वैसे उनकी हैसियत को स्कूल की तरफ से कुछ मान मिला। स्कूल में नियमित तौर से तो नहीं लेकिन फिर भी वालदैन टीचर कमेटी की मीटिंग होने लगी थी। वालदैन को इज़्ज़त एहमियत देने से उनका रुत्बा बज़ाहिर तो स्कूल में कुछ बेहतर हुआ था। चंद लोगों से मेरा रिश्ता काफी खूबसूरत और गहरा बना। कई बार सोचती हूं कि ग़रीब-मज़दूर अपनी नरमी और तहज़ीब को ज़ेवर और हथियार दोनों बना पाते हैं। हरेक अपनी जगह बना पाने के लिए कुछ न कुछ तो करता ही है। ज़्यादातर बड़े खुदार लोग मिले। मजबूरी और तकलीफ़ में भी बड़ी मुश्किल से फ़ीस माफ़ी की दरखास्त आती थी। कई बच्चों के हालात तो चौंका देने वाले थे। अब रुशदा के वालिद को ही ले लीजिए। नाबीना थे जो बस आंखों में अपने बच्चों की कामयाबी के ख़ाब सजाए हुए थे। ज़बान के शऊर और तहज़ीब की तो बस दाद ही दे सकते हैं। आख़िरी मुलाकात में कहा था, "बस बाजी मैं बच्ची को आपके हवाले कर रहा हूं, अब आप ही के राय-मशवरे से चलेगी रुशदा। खुदा का बहुत शुक्र है उसने आपका साथ दे दिया। खुदा आपको इसका अज़्र दे।" अचानक उनकी मौत की ख़बर सुनकर बहुत तकलीफ़ हुई। उनके परिवार से, खासतौर से उनकी पत्नी से बहुत कुछ सीखने का मौका मिला। कई बार उनके घर जाना हुआ। सभी बहुत इज़्ज़त और मौहब्बत से मिलते थे। चाहे इतनी कुर्बत का रिश्ता कुछ ही लोगों से बना हो लेकिन बहुत सारे लोगों तक इसकी ख़बर पहुंची। लोगों ने इस फ़िक्र की इज़्ज़त और क़दर की और अपनी बात करने कहने की उनमें हिम्मत आई।

## कुर्सी से जुड़ा रुत्बा और रिश्ते

अगर प्रिंसिपल साहब से रिश्ते की बात करूं तो बहुत अच्छा सफ़र रहा। बेहद नेक, मेहनती, स्कूल और बच्चों का भला सोचने वाले इंसान हैं। तंत्र की औपचारिक सी सीढ़ीनुमा शक्ल को कुबूल सा कर चुके हैं। कभी मैं अपनी उर्दू ज़बान की शाइस्तगी का इस्तेमाल करते हुए कुछ गुज़ारिश करती तो तपाक से कहते, "मैडम, आप क्यों शर्मिन्दा करती हैं, आप बड़ी हैं, बस हुक्म किया कीजिए"। जी, 'बड़ी' से मतलब औहदे से ही था। भई, उम्र में, तजुर्बे में और बुजुर्गी में तो वह ही बड़े हैं। हमारा, गुज़ारिश और 'हुक्म' का रिश्ता लगातार ही रहा है। बहरहाल, ऐसा भी नहीं है कि उन्होंने कभी किसी बात पर ऐतराज़ न किया हो या फिर बग़ैर सवाल किए हर बात सर आंखों पर ले ली हो। लेकिन उनका बात करने-कहने का सलीका, उनकी तहज़ीब और नज़रिए दोनों की ही देन लगती है। अगर कभी शिक्षा महकमे के लिए ख़त लिखकर मेल (mail) करो, तो बड़े शऊर से कहते, "वैसे तो मैडम आप जैसा कहेंगी मैं कर लूंगा, मेरा क्या है, लेकिन अगर हम इसमें यह और लिख देते कि..."। अगर किसी बात का तकाज़ा करो तो कहते, "मैडम, इसी काम में सुबह से लगा हूं, आज ख़त्म करके आपको भेजकर ही स्कूल से निकलूंगा।" छः साल में बस चंद बार हुआ है कि हमारी बहस हुई हो। शुक्र है खुदा का वरना महसूस होता कि मैं हामी की तवक्क़ह में ही लगी हूं।

अगर एक बार का जिक्र करूं तो हुआ यूं था कि जब हम स्कूल को बेहतर बनाने की तरकीबें-तदबीरें कर रहे थे तब हमारे प्रिंसिपल साहब की तरफ से तजवीज़ आई कि स्कूल का यूनिफॉर्म भी बदल दिया जाए या और बेहतर बना दिया जाए। इस सिलसिले में उन्होंने उस्तादों और टीचर-वालदैन कमेटी के सदस्यों से भी अनुमति ले ली। मुझे भी इस सिलसिले में बात तो हुई थी लेकिन मेरा कहना था कि अभी और सोचने-समझने की ज़रूरत है। वजह यह थी कि मुझे लगा कि नया यूनिफॉर्म ऐसा है कि वह आसानी से हर जगह नहीं मिलेगा। स्कूल के खास ऑर्डर पर दर्जी से बनवाया-बेचा जाएगा। थोड़ा मंहगा भी पड़ रहा था। हर बच्चे के लिए खर्चा आसान नहीं था। लेकिन हमारे प्रिंसिपल साहब आम से सरकारी स्कूल नुमा यूनिफॉर्म को बदलकर खास को जगह देने पर तुले थे। कहना था कि पूरी तरतीब पर अमल करके यानी वालदैन टीचर कमेटी से अनुमति लेकर ही बदलने की कोशिश है, इसमें अड़चन कैसी? हमारे प्रिंसिपल साहब बात कुछ दिल से लगा बैठे, अड़ गए और धमकी भी दी कि आइंदा मैं उनसे किसी काम की उम्मीद न रखूं। स्टाफ़ के लोग भी उनसे तो कुछ नहीं कह पाए लेकिन मुझे नुकसानात ज़रूर बयान किए। खैर, इसकी तो अपनी राजनीति है। लेकिन हमारे प्रिंसिपल साहब का यह दावा या दलील कि “तरतीब को अपनाया गया” यह संकेत तो नहीं देती कि तरीका लोकतांत्रिक रहा। जब आवाज़ें कमज़ोर और मद्धम हों तो सुनाई भी नहीं देती हैं। लेकिन प्रिंसिपल न सिर्फ़ इसे स्कूल की बेहतरी का अटूट हिस्सा मान चुके थे बल्कि अपनी हैसियत और रुखे की आन भी समझ रहे थे। क्या करते उनके फ़ैसले को कुबूल किया। यह तय पाया कि जो बच्चे यूनिफॉर्म नहीं ख़रीद पाएंगे उनकी मदद स्कूल कर देगा बाकी बच्चे धीरे-धीरे ख़रीद ही लेंगे। प्रिंसिपल साहब समेत सभी को इस छोटी-सी हरकत से अगर इज़्ज़त का एहसास हुआ तो मेरे लिए भी खुशी की बात थी। प्रिंसिपल का ओहदा तो शायद इससे कुछ मज़बूत हुआ।

यह तो मैं ऐतमाद के साथ कह सकती हूँ कि प्रिंसिपल साहब, मेरी और हमारी वाइस प्रिंसिपल की एक अच्छी टीम बन पाई। प्रिंसिपल साहब को सिर्फ़ इज़्ज़त ही न देना जिसके वह मुस्त्हक़ हैं, बल्कि उसका मुज़ाहिरा करने के अपने फ़ायदे हैं। मुझे लगता है कि इससे उन्हें काम करने और फ़ैसले लेने की हिम्मत मिल पाई। साथ ही बाकी स्टाफ़ को उनकी सदरत कुबूल करना आसान रहा। अगर रहनुमाओं के बीच टकराव नज़र आता है तो लोगों में बिखराव और परेशानी बढ़ती है, गुट बनते हैं और काम में अड़चन आती हैं। मुझे तो प्रिंसिपल साहब से कोई शिकायत नहीं रही, मेहनत में और ख़्वाब और तसव्युरात को अमली जामा पहनाने में तो वह बेजोड़ हैं। हां, खुद एक बड़े तसव्युर के तहत काम करने में कुछ कमज़ोर रहे हैं। शायद हमारा तंत्र ही इतना दबाता है कि लोगों की सोचने-समझने-ख़्वाब देखने की ताक़त ही छीन लेता है। हमारे प्रिंसिपल साहब अब कुछ सालों में रिटायर होने वाले हैं लेकिन उनकी बातों से महसूस होता है कि उन्हें खुलकर काम करने के मौक़े कम ही मिल पाए हैं। कहते भी हैं, “मैडम, मैंने हमेशा मैनेजमेन्ट के साथ मिलकर काम किया है, सब बातें मानी हैं, लेकिन फिर भी पता नहीं ऐतबार क्यों नहीं है, इस बात की मुझे बहुत तकलीफ़ होती है। अब सलीम साहब को देखिए, मुझे धमकी दे रहे थे कि सस्पेंड कर देंगे। जब मैं हर बात वही करने की कोशिश कर रहा हूँ जो वह चाहते हैं, अपने स्टाफ़ की भी नहीं सुन रहा हूँ, फिर यह धमकी कैसी,” इशारा सोसाइटी जो स्कूल चलाती है उसकी ऊंची गद्दी की तरफ़ था। स्कूल इन्तज़ामिया तो सोसाइटी और शिक्षा महकमे के बीच पिस सा जाता है। कुछ हद तक मैं सोसाइटी की ज़ोरावरी और स्कूल इन्तज़ामिया के बीच दीवार बनी रही। इससे प्रिंसिपल साहब को काम करने में कुछ आज़ादी महसूस हुई और मेरे और उनके खुशगवार रिश्ते ने काम में आसानियां, क़दरें, ऐतबार के रिश्ते बनाने में मदद की। साथ ही हमारे प्रिंसिपल साहब का हौसला बुलन्द हुआ और उनकी गद्दी को ताक़त मिली। हिम्मत आई तो उन्होंने स्टाफ़ को काम सौंपना, बांटना शुरू किया और उनकी एक बेहतर टीम बन पाई।

## लोग जुड़ते गए काफ़िला बनता गया

जहां तक टीचर हज़रात से ताल्लुक़ का सवाल है, काफ़ी से अच्छा इज़्ज़त-एहताराम का रिश्ता बन पाया था। कुछ से गप-शप भी हो जाती थी। कुछ से तकल्लुक़ बरकरार रहा। कई थोड़ा नाराज़ भी रहे। ताल्लुक़ात और रिश्तों की नौइयत कुछ ऐसी रही कि हमारा तंत्र कुछ लचीला और लोकतांत्रिक हो पाया। लोगों को काम करने के मौक़े मिले

और एहमियत का एहसास हुआ। टीचर और अपने रिश्ते का बयान, एक मज़ेदार वाक्ये से शुरू करती हूँ। जब शुरू-शुरू में मैं स्कूल जाती थी तो ज़्यादातर टीचर दूर-दूर ही रहते थे या फिर अगर किसी से कुछ पूछो तो शिकायत के पुलिन्दे ही तोहफ़े में मिलते थे। कभी बिल्डिंग की शिकायत, कभी बच्चों की, न जाने क्या-क्या। ज़्यादातर शिकायतें बेबुनियाद भी नहीं थीं। एक दिन हमारे सोसाइटी के ज्वाइन्ट सैक्रेटरी, जो कि एक ताजिर हैं, तशरीफ़ लाए। मैंने उन्हें इस बारे में बताया। कहने लगे मैं आपको एक किस्सा सुनाता हूँ आपको अपने टीचर-हज़रात की कैफ़ियत समझ में आ जाएगी। किस्सा कुछ यूँ था:

“मैंने एक ज़माने में फ़ौज ज्वाइन की थी, बाद में छोड़ दी। सुबह 5 बजे परेड के लिए हाज़िर होना पड़ता था। एक दिन जब मैं लाइन में आकर खड़ा हुआ तो देखा बैल्ट लगाना भूल गया था। मेरे बराबर में एक पंडित लड़का खड़ा था, मैंने कहा, भाई सुबह-सुबह कप्तान की डांट खानी पड़ेगी, जल्दी में बैल्ट पहनना भूल गया। उस लड़के ने इत्मिनान से कहा, ‘कोई बात नहीं, अपनी टोपी थोड़ी टेढ़ी कर लो।’ मैंने वही किया। वह अफ़सर आया तो उसने मुझसे टोपी सीधी करने के लिए कहा, और आगे बढ़ गया। इसी तरह आपके टीचर चाहते हैं कि आप फुजूल की बातों में उलझी रहें, कमियों पर आपकी नज़र न जाए”।

उनकी बात इस माइने में तो सही थी कि गड़बड़ी और बेतरतीबी में कमज़ोर लोग पनाह ढूँढ़ते हैं। कमज़ोरियाँ छुपी रहती हैं। चाहे कमी पढ़ाई-लिखाई-समझ की हो या अपनी ज़िम्मेदारी न निभाने की। ख़ैर, हमारे यहां इस मिज़ाज के टीचर चंद ही रहे होंगे। जहां तक बाकी टीचर का ताल्लुक है, जैसे-जैसे हौसला बढ़ा, यह देखा कि मैं फुजूल नुक़सान पहुंचाने वालों में नहीं हूँ, उनकी कमियों पर नज़र नहीं है बल्कि साथ मिलकर काम करना चाहती हूँ, कुछ माहौल-सा बदलने लगा। हमारी बातों का दायरा भी वसी होने लगा। शिकवे-शिकायत की बजाय तजवीज़ें आने लगीं। यहां तक का सफ़र तय करने में भी सब्र की और उम्मीद जगाए रखने की ज़रूरत थी। असल में बड़े हों या बच्चे कामयाबी का भरोसा और नमूना चाहते हैं। जैसे-जैसे हमारे स्कूल में सरगर्मियां बढ़ीं, क्लासों वक़्त पर लगने लगीं, कुछ माहौल बदला तो हम लोगों के रिश्ते भी तब्दील होने लगे। बल्कि यूँ भी कहा जा सकता है कि रिश्ते बदलने-संवरने से माहौल भी बदलने लगा।

मुझे शुरू में ही यह अन्दाज़ा तो हो गया था कि लोग सत्ता से मलबूस ओहदे की कुर्सी की हर हरकत पर गहरी नज़र रखते हैं। यह कुर्सी जब अफ़सरशाही तंत्र की ग़ैर-बराबरी या फिर स्कूल की ग़ैर-बराबरियों से जूझती है तो बराबरी-ग़ैरबराबरी की तरंगें छिड़ सी जाती हैं। हिलने-डुलने पर यह नए रिश्ते, दर्जे उभारती हैं। कभी तो इन तमाम बातों के एहसास के साथ, कभी आदतन मैंने लोगों से औपचारिक और अनौपचारिक स्थितियों में बातचीत करना, तवज्जह देना, छोटी-छोटी कोशिशों को सराहना, उनकी खूबियों को उभारना, सबके सामने तारीफ़ करना, कमियों को नज़रअन्दाज़ करना, शिकायत या ऐतराज़ अलग से करना या सबके सामने न करना सभी जारी रखा। ख़ासतौर से उन लोगों के साथ जिन लोगों की आवाज़ को अनसुना करके मद्धम कर दिया गया हो और उनकी हैसियत को नकारा जा रहा हो। इस तरह लोग ही हाशियों का शिकार नहीं होते बल्कि उनकी काबलियत भी हाशियों पर दम तोड़ देती है। बहुत से लोगों को, जिसमें औरतें और कई लोग शामिल थे, नई हिम्मत मिली। चंद लोगों के हाथ में जो सत्ता थी वह कुछ बिखरी तो औरों की मज़बूती बनी। हमारे यहां पुरज़ा बना लिए गए लोगों की तादाद भी ज़्यादा थी। यकीन मानिए यह सब मामूली तदवीरें सही लेकिन असर अंदाज़ हैं। लोगों को हिम्मत देती हैं और रिश्तों में तब्दीली लाती हैं। मैं सिर्फ़ अपने और स्टाफ़ के रिश्तों की बात नहीं कर रही हूँ बल्कि स्टाफ़ के आपसी रिश्ते में भी फर्क पड़ता है। मैं यह ज़िक्र पिछले लेखों में कर चुकी हूँ कि स्कूल का माहौल कैसे इस माइने में बदला है कि लोगों में हिस्सेदारी की और ज़िम्मेदारी लेने की हिम्मत आई है।

अक्सर टीचर मेरे पास जामिया में अपने शिकवे-शिकायत लेकर आ जाया करते थे। एक हमारी टीचर की बात की शुरुआत अक्सर इस तरह होती थी, “मैम, मैं खुदा न खासता आपसे किसी की शिकायत करने नहीं आई हूँ, आपसे तो दिल खोलकर हम लोग हर तरह की बात कर लेते हैं। प्रिंसिपल साहब से बस मैंने इतना कहा...पता नहीं किस मूड में थे सबके सामने मुझ पर ही सीधे हो गए।” मैंने इत्मिनान दिला दिया कि मैं स्कूल आऊंगी तब प्रिंसिपल साहब

के सामने किसी तरह बात निकालते हैं ताकि बात साफ़ हो जाए। अब यह भी उनसे नहीं कह सकती थी कि टीचर ने मुझे यह बात बताई। शिकवे-शिकायतों के अलावा, तजवीज़ लेकर भी लोग मेरे पास आते रहे हैं। पता था कि बगैर आपसी कड़वाहटों के कुछ कोशिश हो पाएगी। इस बात का फ़ौरन तो नहीं लेकिन चंद दिनों में ही मुझे एहसास हो गया कि चाहे मेरे और अध्यापकों के बीच में रास्ते खुले रहें लेकिन कभी हमारे प्रिंसिपल साहब की भूमिका और रुत्बे के आड़े न आएँ। कोशिश यह ही रही कि स्कूल के रोज़मर्रा के काम और टीचर हज़रात के शिकवे-शिकायत का निपटारा वह खुद करें। अगर मुझे बीच में पढ़ना भी पड़ा, अपनी सी कोशिश तो की कि उन्हें यह न महसूस हो कि उनके फ़ैसले के खिलाफ़ काम हो रहा है। अब आप चाहें इसे छुपा क़ाबू करना मानें, लेकिन रिश्तों की नज़ाकत को समझना और उनका मान रखना ज़रूरी है। हां, यह देखना ज़रूरी है कि फ़ैसला बच्चों की बेहतर शिक्षा के हक़ में हो। कोशिश की और एहसास भी दिलाया कि प्रिंसिपल साहब की बात को मैं ऐहमियत दे रही हूँ। इस तरह उनके रुत्बे और कुर्सी को ताक़त देने की कोशिश की। आख़िर रोज़मर्रा का काम तो उन्हें स्टाफ़ के साथ मिलकर ही करना था। हर एक के काम और रुत्बे का मान रखने से न सिर्फ़ एक खुशगवार माहौल बनता है बल्कि लोगों को अपनी ज़िम्मेदारियों का एहसास होता है जिससे कामों में आसानी होती है। रिश्तों और औहदे का मान रखने से मेरे स्कूल का माहौल तो बदला था।

नाराज़गी और तलख़ी का इज़हार करते हुए भी फ़ोन आते रहे हैं। एक बार इस बात की तजवीज़ हुई कि पांचवीं तक की बजाय आठवीं तक की कक्षाएं शाम की शिफ़्ट में लगाई जाएं। इस तजवीज़ की वजह थी, हमारी पुरानी इमारत की बोसीदा हालत और जगह की कमी। चाहे अभी फ़ैसला नहीं हुआ था। हमारी महिला टीचर को इस बात पर ऐतराज़ था जबकि यह हौसला दिलाया जा रहा था कि बैठक में बातचीत-बहस होगी, कोई फ़ैसला थोपा नहीं जाएगा। फिर भी हमारी स्टाफ़ सैक्रेटरी साहिबा का तलख़ी भरा फ़ोन आ ही गया, “बहुत दिन से आपके दर्शन नहीं हुए हैं, स्कूल कब तशरीफ़ आ रही है आपकी?” चाहे अल्फ़ाज़ मुनासिब हों अंदाज़ कड़वाहट भरा था। मुझे जहां मुहब्बत-भरे पैगामों और इशारों की क़दर रही, वहीं नागवारी, गुस्से और ख़फ़गी ने मुझे बहुत परेशान भी नहीं किया। एक माइने में अगर यह मेरी कामयाबी नहीं बताता तो यह मुझे मेरी शरिख़ियत से तो मिलवाता ही है। इस बात का अफ़सोस तो दूर की बात बल्कि इत्मिनान है कि लोग मुझसे या मेरी कुर्सी और काम से इख़तलाफ़ और गुस्से का इज़हार कर पाए। लोकतांत्रिक इदारे बनाने के लिए वापसी दबाव बनाने के मौक़े ज़रूरी हैं। वैसे भी कुर्सियां इतनी ताक़तवर बना दी गई हैं और तंत्र सीढ़ीनुमा है कि लोगों को अलगाव का शिकार बना देता है। जहां तक मेरा इज़ज़त देने का और मौक़े देने का सवाल है भारी-भरकम कुर्सी के चलते उसे अगर एहसान नहीं तो दरियादिली तो समझा जाएगा। ‘कमज़ोर’ औहदों से वाबस्ता लोगों को अगर खुलकर मुख़ालफ़त करने के मौक़े नहीं मिलते तो वो या तो अपने खोल में गुम हो जाते हैं या फिर कड़वी राजनीति करते हैं। जो बस में है वह ही तो करेंगे। मैंने यह भी महसूस किया है कि कई बार आसान समझे जाने वाले फ़ैसले अपने-आपमें पेचीदा होते हैं। जहां तक शिफ़्ट में तब्दीली का सवाल है, चाहे इसमें 4-5 महिला टीचर ही मुतास्सिर हो रही हों लेकिन असर के दायरे में आते हैं उनके परिवार के लोग, जिसमें बच्चे और बुजुर्ग शामिल हैं और जवाबी टकराव में हमारे स्कूल के बच्चे भी असरअंदाज़ होते हैं। यह भी सच है कि जिस समाज का हिस्सा स्कूल है, उसी समाज ने बच्चों और बुजुर्गों की ज़िम्मेदारी औरतों पर डाल दी है। उस पर नीरस शिक्षा ने उन्हें अपनी ज़िन्दगी को बदलने और समझने के औज़ार भी नहीं दिए हैं। फ़ैसला लेने में और आयामों के अलावा यह मुद्दे भी अहम् रहे। वैसे भी काम के दौरान नतीजों की फ़्रिक् जितनी अहम् है उससे ज़्यादा अहम् उस तक पहुंचने का रास्ता या क़दम हैं। नतीजे तक पहुंचने की जल्दबाज़ी, में कई बार कमज़ोर का हक़ मारा जाता है।

अगले भाग में मैंने स्टाफ़ के कई और लोगों के साथ अपने रिश्ते की बात की है। साथ ही ये सवाल भी उठाया है कि जिसे बदलाव माना-समझा जा रहा है, क्या सिर्फ़ एक पानी का बुलबुला है। ◆

**लेखिका परिचय:** दिल्ली विश्वविद्यालय के लेडी श्रीराम कॉलेज में बीएलएड कोर्स से जुड़ी रही हैं। आजकल जामिया मिलिया इस्लामिया के शिक्षा विभाग में प्रोफेसर हैं।